

संस्कृत साहित्य में नाट्यकला का विकास

अमरेश यादव*

‘नट’ धातु से निष्पन्न नाट्य शब्द नृत्य, गीत व वाद्य शब्द को प्रकट करता है। अमरकोश में ताण्डव, लास्य, नटन, नर्तन व नृत्य को नाट्य का पर्याय माना गया है।¹ भरतमुनि ने नाट्य को एक सार्ववर्णिक वेद कहा है, जिसमें समस्त ज्ञान, कर्म, शिल्प, विद्याएँ और कलाएँ समाहित हैं।² दशरूपककार धनञ्जय ने अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहा है।³ इस प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य एवं अभिनय के समुदाय रूप अर्थ को नाट्य कह सकते हैं। इस नाट्य के उद्भव पर प्राचीन व अर्वाचीन विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, परन्तु आज तक कोई सर्वमान्य सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका है। क्योंकि भारतीय मनीषियों ने इतिहास को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति कभी भी नहीं अपनायी। शिलालेखों में कुछ इतिहास जरूर प्राप्त होता है परन्तु नाट्य की उत्पत्ति पर शिलालेख भी मौन हैं। फिर भी लोकाभिनय, लोकोत्सव व लोकनृत्य ही नाट्यकला के श्रोत रहे हैं और इन्हीं से नाट्य की सृष्टि हुई है।

मानव जीवन में जैसे-जैसे विकास हुआ नाट्य के क्षेत्र में वैसे ही विकास होता गया। प्रागैतिहासिक काल में हडप्पा और मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से तत्कालीन सभ्यता व संस्कृति का परिचय मिलता है। उस उत्खनन से प्राप्त मूर्तियाँ तत्कालीन नाट्य कला के स्वरूप को प्रकट करती हैं।⁴ इन मूर्तियों को देखने से यह प्रतीत होता है कि उस समय नाट्यकला (अभिनय) व नृत्यकला विकसित हो चुकी थी और समाज में उसका प्रचलन भी हो चुका था। नर्तक-नर्तकियों की वेशभूषा, भावों की अभिव्यक्ति, हस्त-पाद, की स्थितियाँ आदि अभिनय कला के समृद्धि का परिचय देते हैं। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदेश के भीमवेटका की गुफाओं में आदिम नृत्य के कई रूप दिखाई पड़ते हैं।⁵ अजन्ता की गुफाओं में, अमरावती में नृत्य-संगीत में रत यक्ष-यक्षिणी, गन्धर्व, किन्नर एवं स्त्रियों के चित्र स्पष्ट रूप से अंकित हैं।

*पूर्व शोधच्छात्र राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

वैदिक काल में नाट्यकला का विकसित रूप हमें दिखलाई पड़ता है। इस युग में यज्ञ- अनुष्ठान प्रमुख रूप से था। इन यज्ञों के विधि-विधानों में नाटकीय प्रदर्शन के तत्व विद्यमान थे। सोमयज्ञ में अध्वर्यु-सोम संवाद, ब्रह्मचारी-पुश्चली संवाद, महाव्रत अनुष्ठान वस्तुतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी रूपक थे। ऋग्वेद में ‘समन’⁶ नामक सामाजिक उत्सव का उल्लेख मिलता है। इस उत्सव में स्त्री-पुरुष, घुड़सवार, धनुर्धारी आदि सभी कला प्रदर्शन करते थे। अनेक प्रकार के लोकाभिनय व लोकनृत्य होते थे। यही ‘समन’ उत्सव महाभारत में समज्जा (समाज) नाम से प्रचलित हुआ। यजुर्वेद में रंगशाला का उल्लेख मिलता है, जिसे सभा कहते थे। उसमें नृत्य के लिए सूत को, गीत के लिए कलाकार एवं वीणावादक, वंशीधारी आदि नियुक्त होते थे।⁷ अथर्ववेद में गन्धर्व, गायक, नर्तक, आदि के साथ दुन्दुभि, कर्करी आदि वाद्यों का उल्लेख भी मिलता है।⁸ ऐतरेय ब्राह्मण में सोमयाग में सामूहिक नृत्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें छः स्त्रियाँ जल से भरे हुए घड़े को रखकर वर्तुलाकार गति से नृत्य करती हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला अत्यन्त उच्चावस्था में पहुँच चुकी थी। नट नर्तकी, गायक, वादक, विदूषक आदि कलाकारों का समावेश हो चुका था।

पौराणिक काल में अनेक प्रकार के उत्सवों, यात्राओं व समाज में नाट्य का प्रयोग होने लगा था। रामायण में शैलूष, नट, नर्तक, गायक, सूत, मगध आदि शब्दों का प्रयोग कई अवसरों पर प्राप्त होता है। इन्हें अपने कलाओं को प्रदर्शन करने का अवसर भी प्राप्त होता था।⁹ रामायण व महाभारत में ‘नाटक’ का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि उस समय नाटक प्रयोग प्रचलित था। रामायण में उल्लिखित ‘व्यामिश्र’ शब्द नाटक में मिश्रित भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करता है।¹⁰ महाभारत में वारणावत में पशुपति समाज का उल्लेख मिलता है,¹¹ जिसमें नाट्य, नृत्य, संगीत आदि का प्रदर्शन किया गया था। इससे हमें प्रतीत होता है कि रामायण व महाभारत काल में नाट्य-मण्डलियाँ होती थी, जो अनेक उत्सवों, यात्राओं व समाज में नाट्य प्रस्तुतियाँ किया करती थी।

नाट्यकला के विकास में पुराण, रामायण व महाभारत का सस्वर वाचन का विशेष महत्व था। कथक समुदाय के लोग समाजोत्सव या अन्य अवसरों पर रामायण, महाभारत, पुराण के आख्यानों को गा-गा कर लोगों को सुनाते थे। पाठकों का एक वर्ग ‘कुशीलव’ था। कीथ ने कुशीलव का सम्बन्ध रामायण के

कुश-लव से जोड़ा है। कुश-लव ने रामायण का गान किया था। बाद में ये कुशीलव कुत्सित आचरण के कारण कुशीलव में बदल गये।¹² कथक का दूसरा वर्ग 'धारक' था, जो सूत्र को धारण करने के कारण सूत्रधार या सूत कहलाया। महाभारत में यज्ञ की वेदी नापने के कारण सूत्रधार कहा गया और वस्तुकला का सम्पादक होने के कारण उसे स्थापित कहा गया। बाद में नाट्य का सूत्र धारण या स्थापना के कारण भी सूत्रधार या स्थापक हो गया। रामायण-पुराण आदि की व्याख्या कर लोगों को सुनाने के कारण वह 'सूत' कहलाया। इस प्रकार सूत सूत्रधार, स्थपति, स्थापक एवं पौराणिक कहलाने लगे। सूत रामायण, महाभारत, पुराण की कथाओं को लोगों को समझाता और कुशीलव गायन-वादन के द्वारा उसकी सहायता करता। आगे चलकर धीरे-धीरे अपनी कथा को नाटकीय रूप प्रदान किया गया। सूत सूत्रधार और कुशीलव पारिपार्श्विक हो गया। रामायण, पुराण आदि की कथाओं को ग्रन्थ की सहायता से मंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा और नाटक एक स्वतंत्र विधा बन गया।

अष्टाध्यायी में शिलालिन् और कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है। इनमें जो शिलालि द्वारा कहे गये नटसूत्र का अध्ययन करते थे, वे 'शैलालिन्' कहलाए और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित हुए वे 'कृशाश्विन' कहलाए-पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो। कर्मन्दकृशाशवादिनिः।¹³

पतञ्जलि ने महाभाष्य में शौभिक (शोभनिक) ओर ग्रन्थिक तथा उनके कार्यों का अलग-अलग निर्देश किया है। शौभिक नटों का उपाध्याय था। वह आंगिक अभिनय के द्वारा नटों (अभिनेताओं) को दीक्षित करता था। कैयट के अनुसार शौभिक कंस आदि का अनुकरण करने वाले नटों को कंस आदि का अनुकरण की शिक्षा देता था-

'शौभिका कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः'।¹⁴

इस प्रकार शौभिक नट-शिक्षक था और ग्रन्थिक कथक था। जो ग्रन्थ पटल की सहायता से कथानायकों के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए श्रोताओं को उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराता था। इस प्रकार प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के समय में नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। नाट्य में पाठ, गीत और अभिनय का समावेश हो गया था। अभिनेता उचित वेश-भूषा धारण कर रंगमंच पर प्रदर्शन करने लगे थे।

पौराणिक काल नाट्यकला की समुन्नति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। उस समय नाट्य का मंचन होने लगा था। प्रथम मंचन भरतमुनि ने इन्द्रमहः के अवसर पर प्रस्तुत किया था। इन्द्रमहः एक उत्सव था। यह विजय के उपलक्ष्य में कराया जाता था। इन्द्र के विजय के उपलक्ष्य में भरत ने प्रथम 'अमृतमन्थन' नामक रूपक का फिर 'त्रिपुरदाह' नामक ड्राम का अभिनय किया था। इसमें भारती, सात्वती एवं आरभटी, इन तीन वृत्तियों का समावेश था। उस समय प्रायः स्त्रियां मंच पर अभिनय नहीं कीं। बाद में कैशिकी वृत्ति जुड़ी और स्त्रियाँ अभिनय करने लगीं। तदनन्तर नाटक धीरे-धीरे विकसित होता गया। महाभारत के परिशिष्ट हरिवंशपुराण में 'रामायण' एवं 'कौबेररम्भाभिसार' नामक नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। ये नाटक प्रद्युम्न-विवाह के अवसर पर खेले गये थे।¹⁵ भागवतपुराण में वर्णित रासलीला नाट्यकला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। रासलीला में नाट्यकला का प्राचीन रूप देखने को मिलता है। रासलीला में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण मण्डलाकार नृत्य करते थे। इसी को 'हल्लीस' भी कहते हैं। नाट्यशास्त्र में हल्लीस का उल्लेख प्राप्त होता है। पौराणिक काल में नाट्यकला का विकास इतना हो चुका था कि उस समय में नट, नर्तक और अभिनेताओं को शिक्षित समय किया जाने लगा था। अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नाट्यकला का शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है। इस प्रकार नाट्यकला के विकास में पौराणिक काल की महती भूमिका थी। उनमें भी अग्निपुराण का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बौद्धयुग में सामाजिक लोकोत्सवों में नाट्य व नृत्य का आयोजन होता था। बीच में रंगमंच बनाया जाता था, जिसके चारों ओर दर्शक बैठकर प्रदर्शन देखते थे। रंगमंच पर नृत्य, नाट्य, अभिनय, गीत, वाद्य, मल्लयुद्ध आदि दिखाए जाते थे। ये प्रदर्शन इतने प्रभावकारी थे कि इन्हें देखने के लिए देवता, नाग, गरुड भी आते थे।¹⁶ बौद्ध साहित्य में एक ऐसे नाट्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें एक अभिनेता पाँच सौ नर्तकियों के साथ नृत्य व नाट्य का प्रदर्शन कर दर्शकों को सम्मोहित किया करता था।¹⁷ इस समय नाट्यमण्डलियाँ होती थी, जो विभिन्न अवसरों पर नाट्य प्रस्तुत करती थीं।

अर्थशास्त्र के लेखक कौटिल्य के समय नाट्य-मण्डलियाँ घूम-घूम कर नाट्य व नृत्य का प्रदर्शन करती थीं। राज्य की ओर से इन्हें योग्यतानुसार वेतन दिया जाता था।¹⁸ उस समय राज्य की ओर से नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य, वैदिक आदि

कलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता था। वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार प्रत्येक माह या पक्ष में सरस्वती मन्दिर में 'समाज' का आयोजन होता था, जिसमें नाट्यमण्डलियाँ अपनी कलाओं का प्रदर्शन करती थी और पुरस्कार देकर उन्हें सम्मानित किया जाता था।¹⁹ इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय में नाट्यकला समाज का अंग बन चुकी थी और लोक में अत्यन्त प्रचलित थी। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के अनुसार नाट्य वह कला है, जिसमें नृत्य, गीत, वाद्यों के साथ अन्य कलाओं का समावेश था। नाट्यशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकलाओं का पूर्ण विकास हो चुका था। नाट्याभिनय से पूर्व रंगविधि का विधान होने लगा था। नाट्यकला में सजीवता लाने के लिए चित्राभिनय का विधान था। जिसमें अनेक हाथ-पैर वाले हाथी या, बाघ, घोड़े, बैल आदि के मुखौटे लगाकर अभिनय किये जाते थे। इससे नाट्य के अभिनय में रञ्जकता बढ़ती थी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नाट्य का विकास नृत्त, नृत्य एवं संवाद के संयोग से हुआ है। इसके विकास का क्रम प्रागैतिहासिक काल से लेकर भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। सिंधु घाटी के प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि उस समय नाट्य कला का पूर्ण विकास हो चुका था। मोहनजोदड़ों में नृत्य करते हुए कांस्य की मूर्ति प्राप्त होती है। इसमें दाहिना हाथ कमर तक और बाँया हाथ नीचे की ओर लटका हुआ है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो नर्तकी अभी थिरक देगी। इसी प्रकार अनेक मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे नृत्यकला के तत्कालीन स्वरूप का परिचय मिलता है। नाट्यशास्त्र के रचनाकाल तक नृत्य व नाट्यकला का विकास एक व्यवस्थित अवस्था में प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में दशरूपक रंगमञ्च पर अनेक प्रकारों से अभिनीत किये जाने लगे थे। आगे उनका विकास उन्तरोत्तर होता रहा और विश्वनाथ के समय तक दश रूपक व अट्ठारह उपरूपकों का विकास हो गया। नाट्यकला नृत्य के रूप में हमें प्राप्त हुई, और पुनः भाव प्रदर्शन की क्रिया मिलकर नृत्य से भाव प्रदर्शन किया जाने लगा। इस प्रकार नाट्य विकसित होकर रूपक, उपरूपक या नृत्यरूपक के रूप में रंगमञ्च में अभिनीत होता रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची—

1. अमरकोश 1/ 7 / 30
2. नाट्यशास्त्र 1/116
3. दशरूपक 1/ 7
4. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्यशास्त्र (डॉ०पारसनाथ द्विवेदी) पृष्ठ 43
5. भारतीय नाट्य-स्वरूप और परम्परा (राधाबल्लभ त्रिपाठी) पृष्ठ 55
6. ऋग्वेद 1/14/8, 2/16/7, 6/74/3, 9/16/8
7. यजुर्वेद 30/6,8,10,15,19,20 मन्त्र
8. अथर्ववेद 7/109/2.5
9. वाल्मीकि रामायण 2/6/14,1/12/17, 2/83/5
10. वही 2/1/27
11. महाभारत (आदिपर्व) 175/16,176/28.29
12. संस्कृत नाटक (कीथ) 19.21
13. अष्टाध्यायी 4/3/110.111
14. महाभाष्य 3/1/26 प्रदीप टीका
15. हरिवंश पुराण 2/11/26, 2/29/32
16. जातक कथा 2/277, 3/61, 3/338, दीर्घनिकास 1/6,2/13
17. अट्टकथा पृष्ठ 36
- 18-अर्थशास्त्र 2/27,3/18
- 19-कामसूत्र 1/4/15.16